# धर्मका बीज और उसका विकास

श्री देशमुखने कहा है कि धर्मकी लगभग सातसौ व्याख्याएँ की गई हैं, फिर भी उनमें सब धर्मोंका समावेश नहीं होता। आखिर बौद्ध, जैन आदि धर्म उन व्याख्याओंके बाहर ही रह जाते हैं। विचार करनेसे जान पड़ता है कि सभी व्याख्याकार किसी न किसी पंथका अवलम्बन करके व्याख्या करते हैं। जो व्याख्याकार कुरान और मुहम्मदको व्याख्यामें समावेश करना चाहेगा उसकी व्याख्या कितनी ही उदार क्यों न हो, अन्य धर्म-पंथ उससे बाहर रह जायँगे। जो व्याख्याकार बाइबल और क्राइस्टका समावेश करना चाहेगा, या जो वेद, पुरान आदिको शामिल करेगा उसकी व्याख्याका भी यही हाल होगा। सेश्वरवादी निरीश्वर धर्मका समावेश नहीं कर सकता और निरीश्वरवादी सेश्वर धर्मका। ऐसी दशामें सारी व्याख्याएँ अधूरी साबित हों, तो कोई अचरज नहीं। तब प्रश्न यह है कि क्या शब्दोंके द्वारा धर्मका स्वरूप पहचानना संभव ही नहीं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। 'ना' इस अर्थमें कि जीवनमें धर्मका स्वतः उदय हुए बिना शब्दोंके द्वारा उसका स्पष्ट भान होना संभव नहीं और 'हाँ' इस अर्थमें कि शब्दोंसे प्रतीति अवश्य होगी, पर वह अनुभव जैसी स्पष्ट नहीं हो सकती। उसका स्थान अनुभवकी अपेक्षा गौण ही रहेगा। अतएव, यहाँ धर्मके स्वरूपके बारेमें जो कुछ कहना है वह किसी पान्थिक दृष्टिका अवलंबन करके नहीं कहा जायगा जिससे अन्य धर्मपंथोंका समावेश ही न हो सके। यहाँ जो कुछ कहा जायगा वह प्रत्येक समझदार व्यक्तिके अनुभवमें आनेवाली हकीकतके आधारपर ही कहा जायगा जिससे वह हर एक पंथकी परिभाषामें घट सके और किसीका बहिर्भाव न हो। जब वर्णन शाब्दिक है तब यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि वह अनुभव जैसा स्पष्ट भी होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व-मीमांसामें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्रसे धर्मके स्वरूपका विचार प्रारंभ किया है कि धर्मका स्वरूप क्या है? तो उत्तर-मीमांसामें 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रसे जगत्के मूलतत्त्वके स्वरूपका विचार प्रारम्भ किया है। पहलेमें आचारका और दूसरेमें तत्त्वका विचार प्रस्तुत है। इसी तरह आधुनिक प्रश्न यह है कि धर्मका बीज क्या है, और उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या है? हम सभी अनुभव करते हैं कि हममें जिजीविषा है। जिजीविषा केवल मनुष्य, पशु, पक्षी तक ही सीमित नहीं है, वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट पतंग और बेक्टेरिया जैसे जंतुओंमें भी है। जिजीविषाके गर्भमें ही सुखकी ज्ञात, अज्ञात अभिलाषा अनिवार्यरूपसे निहित है। जहाँ सुखकी अभिलाषा है, वहाँ प्रतिकूल वेदना या दुःखसे बचनेकी वृत्ति भी अवश्य रहती है। इस जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःखके प्रतिकारकी इच्छामें ही धर्मका बीज निहित है।

कोई छोटा या बड़ा प्राणधारी अकेले अपने आपमें जीना चाहे तो जी नहीं सकता और वैसा जीवन बिता भी नहीं सकता। वह अपने छोटे बड़े सजातीय दलका आश्रय लिये बिना चैन नहीं पाता। जैसे वह अपने दलमें रहकर उसके आश्रयसे सुखानुभव करता है वैसे ही यथावसर अपने दलकी अन्य व्यक्तियोंको यथासंभव मदद देकर भी सुखानुभव करता है। यह वस्तु-स्थिति चींटी, भौंरे और दीमक जैसे क्षुद्र जन्तुओंके वैज्ञानिक अन्वेषकोंने विस्तारसे दरसाई है। इतने दूर न जानेवाले सामान्य निरीक्षक भी पक्षियों और बन्दर जैसे प्राणियोंमें देख सकते हैं कि तोता, मैना, कौआ आदि पक्षी केवल अपनी संततिके ही नहीं बल्कि अपने सजातीय दलके संकटके समय भी उसके निवारणार्थ मरणांत प्रयत्न करते हैं और अपने दलका आश्रय किस तरह पसंद करते हैं। आप किसी बन्दरके बच्चेको पकड़िए, फिर देखिए कि केवल उसकी माँ ही नहीं, उस दलके छोटे बड़े सभी बन्दर उसे बचानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह पकड़ा जानेवाला बच्चा केवल अपनी माँकी ही नहीं अन्य बन्दरोंकी ओर भी बचावके लिए देखता है। पशु-पक्षियोंकी यह रोजमर्राकी घटना है तो अतिपरिचित और बहुत मामूली-सी, पर इसमें एक सत्य सूक्ष्मरूपसे निहित है।

वह सत्य यह है कि किसी प्राणधारीकी जिजीविषा उसके जीवनसे अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हो सकती और जिजीविषाकी तृप्ति तभी हो सकती है, जब प्राणधारी अपने छोटे बड़े दलमें रहकर उसकी मदद लें और मदद करें। जिजीविषाके साथ अनिवार्य रूपसे संकलित इस सजातीय दलसे मदद लेनेके भावमें ही धर्मका बीज निहित है। अगर समुदायमें रहे बिना और उससे मदद लिए बिना जीवनधारी प्राणीकी जीवनेच्छा तृप्त होती, तो धर्मका प्रादुर्भाव संभव ही न था। इस दृष्टिसे देखनेपर कोई सन्देह नहीं रहता कि धर्मका बीज हमारी जिजीविषामें है और वह जीवन-विकासकी प्राथमिकसे प्राथमिक स्थितिमें भी मौजूद है, चाहे वह अज्ञान या अव्यक्त अवस्था ही क्यों न हो।

हरिण जैसे कोमल स्वभावके ही नहीं बल्कि जंगली भैंसों तथा गैण्डों जसे कठोर स्वभावके पशुओंमें भी देखा जाता है कि वे सब अपना अपना दल बाँधकर रहते और जीते हैं। इसे हम चाहे आनुवंशिक संस्कार मानें चाहे पूर्वजन्मोपार्जित, पर विकसित मनुष्य-जातिमें भी यह सामुदायिक वृत्ति अनिवार्य रूपसे देखी जाती है। जब पुरातन मनुष्य जंगली अवस्थामें था तब और जब आजका मनुष्य सभ्य गिना जाता है तब भी, यह सामुदायिक वृत्ति एक-सी अखण्ड देखी जाती है। हाँ, इतना फ़र्क अवश्य है कि जीवन-विकासकी अमुक भूमिका तक सामुदायिक वृत्ति उतनी समान नहीं होती जितनी कि विकसित बुद्धिशील गिने जानेवाले मनुष्यमें है। हम अभान या अस्पष्ट भानवाली सामुदायिक वृत्तिको प्रावाहिक या औघिक वृत्ति कह सकते हैं। पर वही वृत्ति धर्म-बीजका आश्रय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस धर्म-बीजका सामान्य और संक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवनके लिए जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

जब हम विकसित मानव जातिके इतिहास-पटपर आते हैं तब देखते हैं कि केवल माता-पिताके सहारे बढ़ने और पलनेवाला तथा कुटुम्बके वातावरणसे पुष्ट होनेवाला बच्चा जैसे जैसे बड़ा होता जाता है और उसकी समझ जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसका ममत्व और आत्मीय भाव माता-पिता तथा कुटुम्बके वर्तुलसे और भी आगे विस्तृत होता जाता है। वह शुरूमें अपने छोटे गाँवको ही देश मान लेता है। फिर क्रमशः अपने राष्ट्रको देश मानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और किसी किसीकी समझ इतनी अधिक व्यापक होती है कि उसका ममत्व या आत्मीयभाव किसी एक राष्ट्र या जातिकी सीमामें बद्ध न रहकर समग्र मानव-जाति ही नहीं बल्कि समग्र प्राणि-वर्गतक फैल जाता है। ममत्व या आत्मीय-भावका एक नाम मोह है और दूसरा प्रेम। जितने परिमाणमें ममत्व सीमाबद्ध अधिक, उतने परिमाणमें वह मोह है और जितने परिमाणमें निस्सीम या सीमा-मुक्त है उतने परिमाणमें वह प्रेम है। धर्मका तत्त्व तो मोहमें भी है और प्रेममें भी। अन्तर इतना ही है कि मोहकी दशामें विद्यमान धर्मका बीज तो कभी कभी विकृत होकर अधर्मका रूप धारण कर लेता है जब कि प्रेमकी दशामें वह धर्मके शुद्ध स्वरूपको ही प्रकट करता है।

मनुष्य-जातिमें ऐसी विकास शक्ति है कि वह प्रेम-धर्मकी ओर प्रगति कर सकती है। उसका यह विकास-बल एक ऐसी वस्तु है जो कभी कभी विकृत होकर उसे यहाँतक उलटी दिशामें खींचता है कि वह पशुसे भी निकृष्ट मालूम होती है। यही कारण है कि मानव-जातिमें देवासुर-वृत्तिका द्वन्द्व देखा जाता है। तो भी एक बात निश्चित है कि जब कभी धर्मवृत्तिका अधिकसे अधिक या पूर्ण उदय देखा गया है या संभव हुआ है तो वह मनुष्यकी आत्मामें ही।

देश, काल, जाति, भाषा, वेश, आचार आदिकी सीमाओंमें और सीमा-ओंसे परे भी सच्चे धर्मकी वृत्ति अपना काम करती है। वही काम धर्म-बीजका पूर्ण विकास है। इसी विकासको लक्ष्यमें रखकर एक ऋषिने कहा कि 'कुर्व-न्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' अर्थात् जीना चाहते हो तो कर्तव्य कर्म करते ही करते जियो। कर्तव्य कर्मकी संक्षेपमें व्याख्या यह है कि "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचित् धनम्" अर्थात् तुम भोग करो पर बिना त्यागके नहीं और किसीके सुख या सुखके साधनको लूटनेकी वृत्ति न रखो। सबका सारांश यही है कि जो सामुदायिक वृत्ति जन्मसिद्ध है उसका बुद्धि और विवेकपूर्वक अधिकाधिक ऐसा विकास किया जाय कि वह सबके हितमें परिणत हो। यही धर्म-बीजका मानव-जातिमें संभवित विकास है।

ऊपर जो वस्तु संक्षेपमें सूचित की गई है, उसीको हम दूसरे प्रकारसे अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वचिन्तनके ऐतिहासिक विकास-क्रमकी दृष्टिसे भी सोच सकते हैं। यह निर्विवाद तथ्य है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर बड़ेसे बड़े पशु-पक्षी जैसे प्राणियोंतकमें जो जिजीविषामूलक अमरत्वकी वृत्ति है, वह दैहिक या शारीरिक जीवन तक ही सीमित है। मनुष्येतर प्राणी सदा जीवित रहना चाहते हैं पर उनकी दृष्टि या चाह वर्तमान दैहिक जीवनके आगे नहीं जाती। वे आगे या पीछेके जीवनके बारेमें कुछ सोच ही नहीं सकते। पर जहाँ मनुष्यत्वका प्रारंभ हुआ वहाँसे इस वृत्तिमें सीमा-भेद हो जाता है। प्राथमिक मनुष्य-दृष्टि चाहे जैसी रही हो या अब भी हो, तो भी मनुष्य-जातिमें हजारों वर्षके पूर्व एक ऐसा समय आया जब उसने वर्तमान दैहिक जीवनसे आगे दृष्टि दौड़ाई। मनुष्य वर्तमान दैहिक अमरत्वसे संतुष्ट न रहा, उसने मरणोत्तर जिजीविषामूलक अमरत्वकी भावनाको चित्तमें स्थान दिया और उसीको सिद्ध करनेके लिए वह नाना प्रकारके उपायोंका अनुष्ठान करने लगा। इसीमेंसे बलिदान, यज्ञ, व्रत-नियम, तप, ध्यान, ईश्वर-भक्ति, तीर्थ-सेवन, दान आदि विविध धर्म-मार्गोंका निर्माण तथा विकास हुआ। यहाँ हमें समझना चाहिए कि मनुष्यकी दृष्टि वर्तमान जन्मसे आगे भी सदा जीवित रहनेकी इच्छासे किसी न किसी उपायका आश्रय लेती रही है। पर उन उपायोंमें ऐसा कोई नहीं है जो सामुदायिक वृत्ति या सामुदायिक भावनाके सिवाय पूर्ण सिद्ध हो सके। यज्ञ और दानकी तो बात ही क्या, एकांत सापेक्ष माना जानेवाला ध्यान-मार्ग भी आखिरको किसी अन्यकी मददके बिना नहीं निभ सकता या ध्यान-सिद्ध व्यक्ति किसी अन्यमें अपने एकत्र किये हुए संस्कार डाले बिना तृप्त भी नहीं हो सकता। केवल दैहिक जीवनमें दैहिक सामुदायिक वृत्ति आवश्यक है, तो मानसिक जीवनमें भी दैहिकके अलावा मानसिक सामुदायिक वृत्ति अपेक्षित है।

जब मनुष्यकी दृष्टि पारलौकिक स्वर्गीय दीर्घ-जीवनसे तृप्त न हुई और उसने एक कदम आगे सोचा कि ऐसा भी जीवन है जो विदेह अमरत्व-पूर्ण है, तो उसने इस अमरत्वकी सिद्धिके लिए भी प्रयत्न शुरू किया। पुराने उपायोंके अतिरिक्त नये उपाय भी उसने सोचे। सबका ध्येय एकमात्र अशरीर अमरत्व रहा। मनुष्य अभी तक मुख्यतया वैयक्तिक अमरत्वके बारेमें सोचता था, पर उस समय भी उसकी दृष्टि सामुदायिक वृत्तिसे मुक्त न थी। जो मुक्त होना चाहता था, या मुक्त हुआ माना जाता था, वह भी अपनी श्रेणीमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य मुक्तोंकी वृद्धिके लिए सतत प्रयत्नशील रहता था। अर्थात् मुक्त व्यक्ति भी अपने जैसे मुक्तोंका समुदाय निर्माण करनेकी वृत्तिसे मुक्त न था। इसी-लिए मुक्त व्यक्ति अपना सारा जीवन अन्योंको मुक्त बनानेकी ओर लगा देता था। यही वृत्ति सामुदायिक है और इसीमें महायानकी या सर्व-मुक्तिकी भावना निहित है। यही कारण है कि आगे जाकर मुक्तिका अर्थ यह होने लगा कि जब तक एक भी प्राणी दुःखित हो या वासनाबद्ध हो, तब तक किसी अकेलेकी मुक्तिका कोई पूरा अर्थ नहीं है। यहाँ हमें इतना ही देखना है कि वर्तमान दैहिक जिजीविषासे आगे अमरत्वकी भावनाने कितना ही प्रयाण क्यों न किया हो, पर वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवनका परस्पर संबंध कभी विच्छिन्न नहीं होता।

अब तत्त्वचिन्तनके इतिहासमें वैयक्तिक जीवन-भेदके स्थानमें या उसके साथ साथ अखण्ड जीवनकी या अखण्ड ब्रह्मकी भावना स्थान पाती है। ऐसा माना जाने लगा कि वैयक्तिक जीवन भिन्न भिन्न भले ही दिखाई दे, तो भी वास्तवमें कीट-पतंगसे मनुष्य तक सब जीवनधारियोंमें और निर्जीव मानी-जानेवाली सृष्टिमें भी एक ही जीवन व्यक्त-अव्यक्त रूपसे विद्यमान है, जो केवल ब्रह्म कहलाता है। इस दृष्टिमें तो वास्तवमें कोई एक व्यक्ति इतर व्यक्तियोंसे भिन्न है ही नहीं। इसलिए इसमें वैयक्तिक अमरत्व सामुदायिक अमरत्वमें घुल मिल जाता है। सारांश यह है कि हम वैयक्तिक जीवन-भेदकी दृष्टिसे या अखण्ड ब्रह्म-जीवनकी दृष्टिसे विचार करें या व्यवहारमें देखें, तो एक ही बात नजरमें आती है कि वैयक्तिक जीवनमें सामुदायिक वृत्ति अनि-वार्यरूपसे निहित है और उसी वृत्तिका विकास मनुष्य-जातिमें अधिकसे अधिक संभवित है और तदनुसार ही उसके धर्ममार्गोंका विकास होता रहता है।

उन्हीं सब मार्गोंको संक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाला वह ऋषिवचन है जो पहले निर्दिष्ट किया गया है कि कर्तव्य कर्म करते ही करते जीओ और अपनेमेंसे त्याग करो, दूसरेका हरण न करो। यह कथन सामुदायिक जीवन-शुद्धिका या धर्मके पूर्ण विकासका सूचक है जो मनुष्य-जातिमें ही विवेक और प्रयत्नसे कभी न कभी संभवित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने मानव-जातिमें दो प्रकारसे धर्म-बीजका विकास देखा। पहले प्रकारमें धर्म-बीजके विकासके आधाररूपसे मानव जातिका विकसित जीवन या विकसित चैतन्यस्पन्दन विवक्षित है और दूसरे प्रकारमें देहात्मभावनासे आगे बढ़कर पुनर्जन्मसे भी मुक्त होनेकी भावना विवक्षित है। चाहे जिस प्रकारसे विचार किया जाय, विकासका पूर्ण मर्म ऊपर कहे हुए ऋषिवचनमें ही है, जो वैयक्तिक और सामाजिक श्रेयकी योग्य दिशा बतलाता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें धर्म और समाजविषयक जो जो लेख, व्याख्यान आदि संग्रह किये गये हैं, उनके पीछे मेरी धर्मविषयक दृष्टि वही रही है जो उक्त ऋषिवचनके द्वारा प्रकट होती है। तो भी इसके कुछ लेख, ऐसे मालूम पड़ सकते हैं कि एक वर्ग विशेषको लक्ष्यमें रखकर ही लिखे गये हों। बात यह है कि जिस समय जैसा वाचक-वर्ग लक्ष्यमें रहा, उस समय उसी वर्गके अधिकारकी दृष्टिसे विचार प्रकट किये गये हैं। यही कारण है कि कई लेखोंमें जैनपरंपराका सम्बन्ध विशेष दिखाई देता है और कई विचारोंमें दार्शनिक शब्दोंका उपयोग भी किया गया है। परन्तु मैंने यहाँ जो अपनी धर्मविषयक दृष्टि प्रकट की है यदि उसीके प्रकाशमें इन लेखोंको पढ़ा जायगा तो पाठक यह अच्छी तरह समझ जायँगे कि धर्म और समाजके पारस्परिक सम्बन्धके बारेमें मैं क्या सोचता हूँ। यों तो एक ही वस्तु देश-कालके भेदसे नाना प्रकारसे कही जाती है।

सरित्कुंज,
अहमदाबाद

—सुखलाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org